भऋग्वेद में सृष्टिविद्या का सम्मर्शन"

शोध प्रबंध प्रस्तुत्री
वर्षा जोशी
रिसर्च एसोसिएट
जैन विश्व भारती इंस्टिट्यूट (डीम्ड यूनिवर्सिटी)
लाडनूं

ऋग्वैदिक कवियों ने सर्ग–रचना का अलंकारमयी भाषा में वर्णन किया है। जगत्–निर्माण को उन्होंने भवन–निर्माण का रूपक दिया है। विष्णु के लिए कहा गया है कि उसने मानवों के निवास–हेतु लोकों को नापा और उनका विस्तार किया।[1] भवन–निर्माण में मापन–क्रिया की सर्वाधिक उपयोगिता स्वीकार की गयी है। अतः कहा गया है कि – "इन्द्र ने पृथिवी को छः बार नापा और पृथिवी के विस्तृत तल तथा स्वर्ग के उच्च शिखर का निर्माण किया।"[2] एक मंत्र में वरुण को सूर्य द्वारा पृथिवी को नापने वाला बताया गया है।[3]

ऋग्वेद में विश्व के आधारों का भी उल्लेख है। उदाहरणार्थ सविता ने यन्त्रों के द्वारा पृथिवी को दृढ़ किया।[4]

विष्णु ने द्यावापृथिवी को स्थिर किया।[5] और बृहस्पति ने पृथिवी के छोरों को थामा।[6]

इस प्रकार की कल्पनाओं में हमें ऋग्वैदिक ऋषियों के सृष्टि–सम्बन्धी विचारों का एक परिचय मिलता है किन्तु इनमें भावना का ही प्राधान्य दिखायी देता है।

सृष्टि के उपादान के विषय में जिज्ञासा :– 'नासदीय सूक्त' में की गयी सृष्टि–विषयक जिज्ञासा का निर्देश पहले किया जा चुका है।[7] एक मंत्र में अग्नि, सूर्य,

1 ऋग्वेद 6/49/13
2 ऋक्. 6/47/3–4
3 ऋक्. 5/85/5
4 ऋक्. 10/149/1
5 ऋक्. 7/99/3
6 ऋक्. 4/50/1
7 देखिये विषय प्रवेश, पृ.10

उषा एवं जलों की संख्या के विषय में भी प्रश्न किये गये हैं।[8] विश्वकर्मा को सम्बोधित एक सूक्त में जगत् के मूल उपादान के विषय में यह जिज्ञासा व्यक्त की गयी है–वह कौन सा वन था? और वह कौन सा वृक्ष था? जिसे काट–छीलकर द्यावापृथिवी का निर्माण किया गया –

''किं स्विद्वनं क उ वृक्ष आस–
यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः।[9]

यही पंक्ति 'विश्वदेवाः' को सम्बोधित एक अन्य सूक्त में कही गयी है।[10] इस प्रकार की जिज्ञासाओं को दर्शनशास्त्र का मूल कहा जा सकता है।

उपादान–विषयक उक्त प्रश्न का उत्तर यह कह कर दिया है–''ब्रह्म ही वह वन था, ब्रह्म ही वह वृक्ष था जिसको काट–छीलकर द्यावापृथिवी का निर्माण किया गया – 'ब्रह्म तद्वनं ब्रह्म स उ वृक्ष आस, यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः।'[11] सायण ने भी उक्त ऋचा के भाष्य में 'ब्रह्म स वृक्ष आसीत्, इत्यादिकमुत्तरम्' लिखकर इसी उत्तर की पुष्टि की है।[12]

यहाँ वेदान्तदर्शन की उस धारणा का मूल दिखायी देता है जिसके अनुसार अज्ञान की समष्टि एवं व्यष्टि से उपहित चेतन में वन और वृक्ष की भाँति अभद है।[13] डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल के शब्दों में – 'एक–एक विश्व एक–एक वृक्ष के समान है; जिस प्रकार किसी बड़े अरण्य में वृक्ष होते हैं उसी प्रकार उस ब्रह्म में अनेक विश्व हैं।

8 ऋक्. 10/88/18
9 ऋक्. 10/81/4
10 ऋक्. 10/31/7
11 तै.ब्रा. 2/8/9/6
12 ऋक्. 10/81/4 पर सायण भाष्य
13 वेदान्तर, खण्ड 14

ऊपर जिस मंत्र (ऋक्. 10/81/4) में वन एवं वृक्ष के बारे में पूछा गया है वहाँ मैक्डानल ने वन का अर्थ ;ॅवक किया है और इसे ग्रीक दर्शन में मूलप्रकृति ;ीनसमद्ध का अभिदायक बताया है।[14] यहाँ उल्लेखनीय है कि सांख्यदर्शन में भी प्रकृति को ही मूल उपादान के रूप में स्वीकार किया गया है।[15]

ऋग्वेद में अन्यत्र भी अनेक स्थलों पर संसार को वृक्ष का रूपक दिया गया है।[16]

कठोपनिषद् में संसार को ऐसा सनातन अश्वत्थ–वृक्ष कहा गया है जिसका मूल ऊपर और शाखाएँ नीचे है।[17] इसी को गीता में 'अव्यय अश्वत्थ' कहा है।[18] शंकराचार्य ने अपने गीताभाष्य में ब्रह्म को संसार–वृक्ष का मूल बताया है।[19]

सृष्टि से पूर्व की अवस्था :– ऋग्वेद का 'नासदीय सूक्त' आदिकालीन आर्यों की गवेषणात्मक प्रवृत्ति एक महान् प्रमाण माना गया।[20] इस सूक्त के आरम्भ की तीन ऋचाओं में सृष्टि से पूर्व की अवस्था का चित्रण इस प्रकार किया गया है – ''उस समय न सत् था, न असत् था, न अन्तरिक्ष था और न ही उसके ऊपर आकाश। क्या ढ़के हुए था? कहाँ किसकी शरण में, क्या गहन–गम्भीर जल ही था? तब मृत्यु नहीं थी, अमृत भी नहीं था, रात और दिन का कोई चिन्ह भी नहीं था, अमृत भी नहीं था। वह एक स्वधा के द्वारा वायु के बिना ही श्वास ले रहा था, उसके अतिरिक्त तब कुछ भी नहीं था। पहले अन्धकार से ढ़का व्यापक तत्त्व तुच्छ से ढ़का हुआ था वह एक तपस् की महिमा से उत्पन्न हुआ।''[21]

---

14 मैक्डानल : हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर, पृ.134
15 सांख्य 1/65–67
16 ऋक्. 1/164/20, 22
17 कठोपनिषद् 2/6/1
18 गीता 15/1
19 वही, शांकरभाष्य
20 के.दामोदरन : भारतीय चिन्तन–परम्परा, पृ.40, अनु.जी.श्रीधरन
21 ऋक्. 10/129/1–3

'नासदीय सूक्त' के मंत्र इतने गूढ़ एवं दुर्बोध हैं कि पर्याप्त परिश्रम करने पर भी विद्वान् इनके किसी एक सुनिश्चित अभिप्राय पर नहीं पहुँच पाये।[22] फिर भी उक्त मंत्रों में आये सत्–असत्, अमृत–मृत्यु, तमस–स्वधा, तथा तपस् आदि शब्दों पर विचार करने से सृष्टि–सम्बन्धी कुछ दार्शनिक तत्त्व प्राप्त हो सकते हैं।

शतपथ ब्राह्मण में भी 'नासदीय सूक्त' के मंत्रों की व्याख्या की गयी है। वहाँ कहा गया है – ''आरम्भ में न तो सत् था और न ही असत् था। आरम्भ में यह था भी और नहीं भी था। तब यह केवल वह मन ही था। इसीलिए ऋषि ने कहा है कि – 'तब न सत् था और न असत् था, क्योंकि मन न तो सत् था और न असत्' ।[23] शतपथबाह्मण की इस व्याख्या में भी आदितत्त्व की अनिर्वचनीयता का आभास मिलता है जो सृष्टि के आदि में केवल मनोरूप था। मन का प्रथम बीज काम को बताया गया है जिसकी चर्चा आगे इसी अध्याय में की जायेगी।[24]

श्वेताश्वर उपनिषद् में परमात्मा के पद का वर्णन करते हुए उसे अन्धकार–रहित, न दिन न रात्रि, न सत् न असत्, केवल मात्र शिव कहा है।[25]

नासदीय सूक्त पर टिप्पणी करते हुए डॉ. राधाकृष्णन् ने लिखा है – ''पहली पंक्ति हमारे सिद्धान्तों की अपूर्णता को प्रकाशित करती है। परमसत्ता को जो समस्त विश्व की पृष्ठभूमि में है, हम सत् और असत् किसी भी रूप में ठीक–ठीक नहीं जान सकते। इसके अतिरिक्त असत् को अभौतिक तथा सत् को भौतिक तत्त्व भी कहा गया है।[26] आचार्य उदयवीर शास्त्री ने सत् एवं असत् का अर्थ व्यक्त एवं अव्यक्त किया है।[27]

सत् एवं असत् शब्दों का प्रयोग ऋग्वेद में अन्यत्र भी मिलता है। एक मंत्र में कहा गया है – ''इन्द्र ने एक को आज बनया तथा दूसरे को कल और वह बार–बार सत् एवं असत् का निर्माण करता है।''[28] एक अन्य मंत्र में सत् एवं असत को

22 मैक्समूलर : दि सिक्स सिस्टम्स आफ इण्डियन फिसासफी, पृ.49
23 ऋक्. 10/5/3/1–2
24 ऋक्. 10/129/4
25 श्वेता. 1/4/18
26 डॉ.वासुदेवशरण अग्रवाल : वेदररश्मि, नासदीय सूक्त, पृ.67
27 पं.हरिशंकर जोशी : वैदिक विश्वदर्शन, पृ.222
28 ऋक्. 6/24/5

परम–व्योम में, दक्ष के जन्मस्थान तथा अदिति के उपस्थ में स्थित बताया गया है।[29] यहाँ सायण ने असत् का अर्थ 'अव्याकृतम्' तथा सत् को प्रजापति अथवा आदित्य का वाचक माना है।[30]

अर्थों में भिन्नता होते हुए भी यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि सत् एवं असत, सृष्टि–विद्या में एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। इनके द्वारा सम्भवतः जगत् की कारणता का कुछ अस्पष्ट–सा संकेत दिया गया है। ऋग्वेद में असत् में सत् की उत्पत्ति का वर्णन है।

ऋग्वेद में वर्णित सत् एवं असत् को माध्यमिक बौद्धों के 'सत्, असत्, सदसत्, तथा न सत् न असत्' इन चारों कोटियों से मुक्त तत्त्व का बीज कहा जा सकता है। साथ ही न्यायदर्शन के असत्कार्यवा[31] एवं सांख्य के सत्कार्यवाद का मूल भी यहाँ देखा जा सकता है।

मृत्यु एवं अमरता :– सृष्टि से पूर्व की अवस्था में सत् एवं असत् के निषेध के अतिरिक्त मृत्यु एवं अमृत का भी प्रत्याख्यान किया गया है, अर्थात् जीवन की सत्ता और उसका अभाव दोनों ही उस समय नहीं थे।

अमृत एवं मृत्यु दोनों ही परस्पर सम्बद्ध है। इसीलिए शतपथब्राह्मण में कहा गया है – "मृत्यु में अमृत तथा अमृत में मृत्यु विद्यमान है।"[32] विश्व की प्रक्रिया में अमृत एवं मृत्यु को विश्व का मूल बताते हुए स्थिति–तत्त्व को अमृत एवं मृत्यु इन दोनों का ही स्थान है। पं. मधुसूदन ओझा ने अमृत एवं मृत्यु को विश्व का मूल बताते हुए स्थिति–तत्त्व को अमृत और गतितत्त्व को मृत्यु कहा है।[33] वस्तुतः यदि

29 ऋक्. 6/24/5
30 ऋक्. 10/5/7
31 ऋक्. 10/5/7 पर सायणभाष्य
32 शतब्रा. 10/5/2–4
33 पं.मधुसूदन ओझा : दशवादरहस्य, पृ.15

देखा जाय तो इस गति एवं स्थिति–तत्त्व के आधार पर ही सृष्टि–चक्र का प्रवर्तन हो रहा है। प्रलयकाल में ये दोनों ही अपनी अस्पष्ट अवस्था में थे।

रात और दिन का चिन्ह :– यह भी कहा गया है कि प्रलयकाल में रात एवं दिन का कोई चिन्ह नहीं था। रात और दिन के चिन्ह हैं – सूर्य, चन्द्र एवं नक्षत्रादि। जब ये ही नहीं थे तो रात–दिन का प्रश्न ही नहीं उठता क्योंकि इन्हीं के कारण रात और दिन अस्तित्त्व में आते हैं।

स्वधा :– पीछे सृष्टि से पूर्व की अवस्था के चित्रण में सत्–असत् तथा मृत्यु एवं अमृत आदि के प्रत्याख्यान के बाद आदितत्त्व की ओर कुछ हलका–सा संकेत करते हुए बताया गया है ''वह एक स्वधा के द्वारा वायु के बिना ही श्वास ले रहा था।''[34]

यहाँ स्वधा शब्द में दार्शनिकता का पर्याप्त आभास मिलता है। सायण ने यहाँ 'स्वधा' शब्द का अर्थ माया किया है और कहा है कि वह ब्रह्म माया के साथ एक अर्थात् अविभागापन्न था।[35]

इस भाँति उक्त विवेचना के अनुसार सृष्टि के आदि में एक कोई चेतनतत्त्व अवश्य विद्यमान था, चाहे इसे ब्रह्म कहें अथवा पुरुष। इस तत्त्व को जगत् का निमित्त–कारण कहा जा सकता है। यह अपनी शक्ति से युक्त था, जिसको वेदान्त में माया आर सांख्य में प्रकृति कहा गया है। ऐसा लगता है कि नासदीय सूक्त के ऋषि ने स्वधा शब्द द्वारा जगत् के उपादान कारण की ओर संकेत किया हो।

तमस :– यह भी कहा गया है कि सृष्टि से पहले तम से आवृत तम था – ''तम आसीत्तमसा गूळहमग्रे।''[36] यहाँ सायण ने ''तम'' का दार्शनिक अर्थ ग्रहण किया है। उनके अनुसार यहाँ आत्मतत्त्व का आवरक होने के कारण भावरूप अज्ञान को ही तम कहा गया है, जिसका दूसरा नाम माया है। ''आत्मतत्त्व–स्यावरकत्वान् मायापरसंज्ञं

34 अथर्ववेद 19/53–54
35 ऋक्. 10/129/2 पर सायणभाष्य
36 ऋक्. 10/129/3

भावरूपाज्ञानमत्र तम इत्युच्यते।''[37] सायण के अनुसार यहाँ असत्कार्यवादियों का खण्डन भी किया गया है।

अर्थों में भिन्नता होते हुए भी यहाँ यह तात्पर्य निश्चित रूप में द्योतित होता है कि प्रलयकाल में सृष्टि का मूलकारण अन्धकारमय था। वह क्या था, कैसा था और कहाँ था, यह नहीं बताया जा सकता है।

ऋग्वेद की ही भाँति मनु ने भी सृष्टि से पूर्व की अवस्था को तपोभूत, अप्रज्ञात, अलक्षण, अप्रतर्क्य, अविज्ञेय तथा प्रसुप्त की भाँति बताया है।

आदिमूलतत्त्व जल :– सर्गरचना के पहले की अवस्था को अन्धकारमय बताकर कहा गया है – ''यह सब चिन्हविहीन जल ही था – अप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्।''[38]

''तैत्तिरीयसंहिता'' मं भी आदि मे जल की सत्ता स्वीकार की गयी है – ''आपो ह वा इदमग्रे सलिलमेवास''।[39] बृहदारण्यक उपनिषद् में कहा गया है – ''जल ही पहले थे, उन जलों ने ही सत्य को रचा, सत्य ने ब्रह्म को, और ब्रह्म ने प्रजापति को।''[40] मनु ने भी आदि में जल की ही सृष्टि स्वीकार की है।[41]

यद्यपि ऋग्वेद के जल को अपंचीकृत नहीं कहा जा सकता, परन्तु यह इस बात का परिचायक है कि दृश्यमान जल से भिन्न जल की भावना ऋग्वेद में विद्यमान है जो कि 'अप्रकेतं–सलिलम्' पद से प्रस्फुटित हुई है। सम्भवतः इसी अभिप्राय से मैक्डानल तथा मूर ने उक्त पद का अर्थ वह जल बताया है, जो पृथक् या विभक्त न किया जा सके। मैक्समूलर ने 'अप्रकेतं सलिलम्' को प्रकाशरहित समुद्र कहा है।[42] सायण ने 'अप्रकेतम्' का अर्थ 'अप्रज्ञायमानम्' किया है।[43]

ऋग्वेद में अन्यत्र भी अनेक स्थलों पर भिन्न–भिन्न रूपों में जल से उत्पत्ति का वर्णन है।

---

37 ऋक्. 10/129/3 पर सायणभाष्य
38 ऋक्. 10/129/3
39 तैत्ति.सं. 5/7/5
40 बृहदा. 5/5/1
41 मनु. 1/8
42 मैक्डानल : वैदिक रीडर, पृ. 209
43 ऋक्. 10/129/3 पर सायणभाष्य

समुद्र से सूर्य का उद्भव :– ऋक्. 10/72 में समुद्र से सूर्य का उद्भव बताया गया है। वहाँ यह कहा गया है – जब देवताओं ने यतियों की भाँति भुवनों को भर दिया तब इस समुद्र में छिपे हुए सूर्य को उन्होंने ढूँढ निकाला –

यद्देवा यतयो यथा भुवनान्यपिन्वत।

अत्रा समुद्र आ गूळहमा सूर्यमजभर्तन।।

यहाँ 'यतयः' का अर्थ सायण तथा वेंकटमाधव ने 'मेघ' किया है।[44] किन्तु ग्रिफिथ ने इसका अर्थ क्मअवजममे किया है।[45] इस मत–विभिन्नता के होते हुए भी यहाँ महत्त्व की बात यह है कि देवताओं ने समुद्र में छिपे हुए सूर्य को ढूँढ निकाला। समुद्र शब्द का अर्थ यहाँ सायण के अनुसार ''अप्'' अर्थात् जल है[46]। आपः से सूर्य की उत्पत्ति 'ऐतरेयब्राह्मण' में भी कही गयी है। तदनुसार ''निश्चय हो आपः से जन्म लेने वाला यह आदित्य प्रातःकाल आपः से उदित होता है और सायंकाल आपः में प्रवेश करता है'' – एष वा अब्जा अद्भ्यो वा एष प्रातरुदेति। आपः सायं प्रविशति।[47]

जल से अग्नि की उत्पत्ति :– ऋग्वेद में सूर्य की भाँति अग्नि की उत्पत्ति भी जल से बतायी गयी है। अग्नि का एक नाम ही 'अपांनपात्' है। ऋग्वेद के 'अपांनपात्' सूक्त (2/35) में आपः द्वारा अपांनपात् अर्थात् अग्नि को चारों ओर से घेरने का वर्णन है – ''अपांनपातम् परितस्थुरापः।''[48] 'अपांनपात्' का अर्थ 'ग्रिफिथ' ने वद वि जीम ूजमते किया है और इसे अग्नि का अभिदायक बताया है।[49] इस 'अपांनपात्' ने ही सम्पूर्ण भुवनों को उत्पन्न किया – ''अपांनपादसुर्यस्य महान् विश्वान्यर्यो भुवना जजान''।[50] 'आपः सूक्त' में आपः को 'शुचयः' तथा 'पावकाः' कहा गया है। इससे यह स्पष्ट है कि आपः पावकरूप थे। 'आपः' सूक्त में ही आपः में वैश्वानर अग्नि के प्रवेश का वर्णन है –

44 ऋक्. 10/72/7 पर सायणभाष्य
45 वही, ग्रिफिथ का अनुवाद
46 ऋक्. 10/72/7 पर सायणभाष्य
47 ऐतब्रा. 4/20
48 ऋक्. 2/35/3
49 वही, ग्रिफिथ का अनुवाद
50 ऋक्. 2/35/2

''वैश्वानरो यास्वग्निः प्रविष्टस्ता आपो देवीरिह मामवन्तु।''[51]

ऋग्वेद में तो यह स्पष्ट ही अग्नि को जलों में निरन्तर वृद्धि प्राप्त करने वाला कहा गया है।[52] दशम मण्डल में अग्नि से सम्बन्धित एक सूक्त में अग्नि को ऋत् का प्रथम पुत्र कहा गया है –

''अग्निर्हि नः प्रथमजा ऋतस्य।''[53]

51 ऋक्. 7/49/4
52 ऋक्. 10/45/1
53 ऋक्. 10/5/7